जैन साधु और बीसवीं सदी

निर्मल आजाद

जबलपुर

इतिहास साक्षी है कि विभिन्न युगों में विश्व के विभिन्न भागों में सभ्यता और संस्कृति के उन्नयन में राजसत्ता और धर्मसत्ता ने कभी मिलकर और कभी स्वतन्त्ररूप से योगदान किया है। ऐसा प्रतीत होता है कि वर्तमान के समान भूतकाल में भी मानव को राजभय की अपेक्षा धर्म-भय ने सदा झकझोरा है, उसे धर्मप्राण बनाये रक्खा है। राजसत्ता सदैव बदलती रही है, उसके विकराल रूपों को मानव ने कभी नहीं सराहा। इसके विपर्यास में, धर्म के सिद्धान्तों ने सदैव मानव को शान्ति एवं सुख की ओर अग्रसर किया है, उसके नैतिक सिद्धान्त स्थिर रहें हैं और आज भी उनके मूल्य यथावत् हैं। धर्म ने मानव को मनोवैज्ञानिकतः प्रभावित किया है। इसीलिये वह राजनीति की तुलना में धर्म से अधिक अनुप्राणित पाया जाता है। वह उसे धर्म की कसौटी पर कसता है। उसे लगता है—धर्म से अनुप्राणित राजनीति ही मानव का भला कर सकती है, उसकी स्वच्छन्द और महत्वाकांक्षी मनोवृत्ति पर नियमन कर सकती है। इसका संस्मरण कराने, संस्कार करने के लिए 'संभवामि युगे युगे' महापुरुष जन्म लेते रहते हैं। इस युग में बिहार भूमि में जन्मे महावीर ऐसे ही एक त्रिकालजयी महापुरुष थे।

उन्होंने युग के अनुरूप, पार्श्वपरम्परा में, सामयिक परिवर्तन किये, चतुर्याम को पंचयाम बनाया, सचेल-अचेल के मध्य दिगंबरत्व को साधना का प्रकृष्ट मार्ग कहा, नये तीर्थ का प्रवर्तन कर साधु-साध्वी, श्रावक, श्राविका के चतुर्विध संघ की स्थापना की।[1] संघ जैन संस्कृति एवं परम्परा का वाहक रहा है। अपने ज्ञान, त्याग, चारित्र एवं अन्य गुणों की गरिमा से संघ, प्रमुख साधुओं ने महावीर की परम्परा को जीवन्त बनाये रखने का श्रेय पाया है। ये साधु व्यक्ति नहीं हैं, संस्था हैं। इन पर संघ और समाज का उत्तरदायित्व है। इस संस्था का गौरवशाली इतिहास है। यह हमारी नैतिक संस्कृति की प्रेरक और मार्गदर्शक रही है। बीसवीं सदी के अनेक झंझावातों के बावजूद भी इसकी उपयोगिता एवं सामर्थ्य पर कोई प्रश्न चिह्न नहीं लग सका है।[2] विभिन्न युग की आवश्यकताओं एवं परिस्थिति-जन्य जटिलताओं ने इस संस्था में अनेक परिवर्तन या विकृतियाँ उत्पन्न की है। इनका उद्देश्य आत्मरक्षा, धर्मरक्षा एवं धर्मप्रचार प्रमुख रहा है। ये परिवर्तन प्रायः बहिर्मुखी हैं, ये हमारे अनेकान्ती जीवन पद्धति के ज्वलन्त प्रमाण हैं। आचार्य भद्रबाहु, आचार्य कालक, आचार्य समंतभद्र, भट्ट अकलंक, आचार्य मानतुंग तथा अन्य आचार्यों के जीवन चरित्र आज भी हमारी प्रेरणा के स्रोत हैं। इनकी साधुता के आदर्श एवं व्यवहार हमारा मार्गदर्शन करते हैं।

साधु के शास्त्रीय लक्षण

व्यावहारिक दृष्टि से जैन परम्परा निवृत्तिमार्गी मानी जाती है। अतः इस परम्परा में जीवन का चरम उद्देश्य दुखमय संसार से सुखमय जीवन की ओर जाना माना गया है। इस प्रक्रिया के लिये साधना अपेक्षित है, सरलता

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अपेक्षित है। साधु शब्द के ये दोनों ही विहित अर्थ हैं। साधना का अर्थ संसार में मान्य तथाकथित भौतिक एवं मानसिक सुखों की ओर निरपेक्षता की प्रवृत्ति को विकसित करना है। इसके लिये उत्तराध्ययन[3] में साधु के प्रायः २५ गुणों की चर्चा की गई है। ये गुण साधु के मन-वचन-शरीर को सांसारिक विकृतियों से नियन्त्रित करते हैं और रत्नत्रय की प्राप्ति में सहायक होते हैं। समवायांग और आवश्यक निर्युक्ति[४] में पांच महाव्रत, पंचेन्द्रिय निग्रह, कषायनिग्रह, मन-वचन-काय द्वारा शुभ प्रवृत्ति, वेदना सहृता, मरणान्त कष्टसहना आदि साधु के २७ मूल गुणों की चर्चा है। मूलाचार[५] में पांच महाव्रत, पंचेन्द्रिय जय, पांच समिति, छह आवश्यक तथा केशलोंच, अस्नान आदि सात गुणों को मिलाकर २८ मूल गुणों की चर्चा है। इनमें ही आचारवत्ता, श्रुतज्ञता, प्रायश्चित, एवं आसनादि की क्षमता, आशापायदर्शिता, उत्पीलकता, अस्राविता एवं सुखकारिता के आठ गुण मिलने पर उत्तम साधु के ३६ गुण हो जाते हैं। कुंदकुंद[६] साधु के चारित्र प्रधान केवल १८ गुण (५ महाव्रत, ५ इन्द्रियनिग्रह, ५ समिति एवं ३ गुप्ति) मानते हैं। इसके उपरान्त अनेक आचार्यों ने भिन्न भिन्न रूप से ३६ गुणों का निरूपण किया है (सारणी।)। बीसवीं सदी में आचार्य विद्यानन्द[७] १२ तप, १० धर्म, पंचाचार, छह आवश्यक और तीन गुप्तियों के रूप में ३६ गुणों को मान्यता देते हैं। इनमें कुछ पुनरूक्तियां प्रतीत होती हैं। तप चारित्र का ही एक अंग है, फिर तपाचार और चारित्राचार को पृथक् से गिराने की आवश्यकता नहीं है। दश धर्म मन-वचन-काम के ही नियंत्रक हैं, फिर गुप्तियों की क्या पृथक् से आवश्यकता है? संभवतः समितियों के मूल गुणों में आ जाने से गुप्तियों को इन उत्तर-गुणों में लिया गया हो। स्थिति कल्प भी प्रायः मूल गुणों में आ जाते हैं। अतः साधु के मूल गुण और उत्तरगुण-दोनों ही २८ से अधिक समुचित नहीं प्रतीत होते। जब १८ से ३६ की परम्परा बनी, तब परिवर्तन तो हुआ ही, पुनरावर्तन भी हुआ। वस्तुतः अनेक पुनरावर्तन भी शिथिलता के प्रेरक होते हैं। यहाँ कुछ उदाहरण दिये जा रहें हैं। इन्हें ध्यान

मूल गुण	उत्तरगुणों में पुनराबर्तन
१. छह आवश्यक	छह आवश्यक
(अ) प्रतिक्रमण	क्रियायुक्त, प्रतिक्रमी (स्थितिकल्प)
२. पंच महाव्रत	व्रती, सद्गुणी (स्थिति कल्प) आचारवत्व
३. आचेलक्य	दिगम्बरत्व
४. क्षितिशयन	अशम्यासन

में रख कर पुनरावर्तनों को दूर करना चाहिये। साथ ही अर्धगर्मी गुणों की संख्या न्यूनतम की जानी चाहिये। इस पुनरावर्तन के कारण मूलगुण और उत्तरगुणों का भेद ही समाप्त हो जाता है। फलतः साधु के आवश्यक गुणों का पुनरीक्षित निरूपण आवश्यक है। ये गुण साधु के लिये आदर्श है। श्रावकों को इनमें प्रेरणा मिलती है। धवला[७] में भी सोलह प्राकृतिक उपमानों से साधु के गुणों को लक्षित किया गया है।

साधु और आचार्य

यह निश्चित नहीं है कि जैनों में बहुप्रचलित णमोकार मंत्र कब आविर्भूत हुआ, पर उसकी त्रैकालिक भावना सर्वतोभद्र रही है। उसमें श्रावक धर्म के साधक से आगे की श्रेणियों की पूज्यता का विवरण है। पूज्यों एवं नमस्कार्यों की आधारशिला साधु-श्रेणी है। साधना एवं सरलता की इस कोटि से आगे उपाध्याय और आचार्यों की कोटि है। ऐसा माना जाता है कि साधु आचार प्रमुख होता है और अन्य कोटियां आचार प्रमुखता के साथ दर्शन-ज्ञान बहुल भी होती है। इस लिये उनकी कोटि उच्चतर होती है। कोटि की उच्चता उनके कर्तव्यों, उत्तरदायित्वों को बढ़ाती है और इसके फलस्वरूप उन्हें कुछ अधिकार भी देती है। दिगम्बर परम्परा में उपाध्याय नगण्य ही हुए हैं, पर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

श्वेताम्बर परम्परा में इनकी संख्या पर्याप्त है। फिर भी संघ के संचालन, संवर्धन एवं मार्गदर्शन में आचार्य का ही नाम आता है। सामान्यतः पुरुष साधु ही आचार्य बनाये जाते रहे हैं, पर उपाध्याय अमरमुनि[3] ने साध्वीश्री चंदना जी को आचार्यत्व पद प्रदान कर साध्वियों के लिए नई परम्परा का श्री गणेश कर नयी ज्योति विकिरित की है।

साधु संघस्थ होता है और आचार्य संघनायक होता है। वह साधुजनों की शिक्षा, दीक्षा, अनुशासन, प्रायश्चित्त, संघरक्षा आदि का वेत्ता और मार्गदर्शी होता है। इसलिये सामान्य साधु की तुलना में उसमें कुछ गुणविशेष होने चाहिये। इन गुणों का कर्षण तो उसने स्वयं की साधु अवस्था में किया है, इनका अभ्यास और विकास उसमें ऐसी शक्ति उत्पन्न करना है जो उसे संघनायक बनाती है। महावीर के युग में साधु-संघ के कुछ नियम विकसित किये गये थे :

(i) साधु-संघ पर्वत, उद्यान या चैत्यों पर बने स्थानों पर आवास करे। ये स्थान सुदूर होते थे और जनाकीर्ण नहीं रहते थे। इस कारण साधु जन-सम्पर्क में कम-से-कम आ पाते थे। फलतः वे आदर्श साधना पथ पर आरूढ़ रहते थे।

(ii) साधु उपासरा, देवकुल, स्थानक, धर्मशाला आदि साधु-आवास बनवाने वाले व्यवस्थापकों या श्रेष्ठिवर्ग के घर अशन-पान नहीं करे। यही नहीं, साधु क्षिति-शयन या काष्ठ-पर पर सोवे।

(iii) साधु को राजाओं का आदर या मित्रता नहीं करनी चाहिये। उन्हें उनके यहाँ या उनसे सम्बन्धित व्यक्तियों और अधिकारियों के यहाँ आहार ग्रहण नहीं करना चाहिये।

(iv) साधु को स्नान नहीं करना चाहिये, दंतधावन नहीं करना चाहिये। साधु को उत्तम, मध्यम या जघन्य कोटि कोटि का केशलुंचन करना चाहिये। साधु को यान-वाहन का उपयोग नहीं करना चाहिये। पदयात्रा ही उसका आवागमन-साधन है।

(v) आवश्यकता पड़ने पर ग्राम में एक दिन तथा नगर में पाँच दिन से अधिक आवास नहीं करना चाहिये।

(vi) साधु का आहार आगमिक उद्देश्यों की पूर्ति तथा अचित्तता पर आधारित खाद्यों पर निर्भर रहना चाहिये।

(vii) साधु की अन्य चर्या नैतिक एवं आध्यात्मिक विकास की होनी चाहिये। इसमें स्वाध्याय, ध्यान आदि का अधिकाधिक महत्त्व रहता है।

साधु का आवास

महावीर का युग ग्राम और नगर गण-राज्यों का था। उन दिनों बीसवीं सदी के समान लाखों की आबादी वाले नगर नहीं थे, शहरी संस्कृति की जटिलतायें नहीं थीं। यातायात के साधन तथा धार्मिक उद्देश्यों की पूर्ति करने वाले आवास भवन नगण्य थे। उन दिनों मनुष्य प्राकृतिक जीवन का अभ्यस्त था। फलतः उपरोक्त अनेक नियम समयानुकूल थे। आज ग्रामीण संस्कृति गाँवों में भी समाप्त प्राय दिखती है, शहरों की तो बात क्या ? इसलिये आवास हेतु प्राकृतिक स्थलों की समस्या स्पष्ट है, जनाकीर्णता की बात भी जटिल हो गई है। महावीर के पंचयाम में ब्रह्मचर्य के समाहित होने पर भी जनसंख्या में लगातार वृद्धि होते रहना भी अनेक आधुनिक समस्याओं का मूल है। आवास सम्बन्धी स्थिति की जटिलता का अनुभव छठवीं-सातवीं सदी में हो होने लगा था। इसीलिये आवास और आहार के सम्बन्ध में उपरोक्त नियम (i–iii) महत्त्वपूर्ण हो गये थे। साधुओं के आवास गाँवों एवं नगरों के मन्दिर, चैत्य एवं धर्मशालाओं में होने लगे थे और वे सभी प्रकार के लोगों के अधिकाधिक संपर्क में आने लगे थे। इस सम्पर्क से, अन्य धर्मों के समान जैनश्रमणों में भी धर्म-प्रचार की भावना ने उत्कट रूप लिया। यह मानसिकता तब, सम्भवतः और उग्र हुई

१०

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सारणी : साधु के गुण :

अनगार के २७ गुण (हरिभद्र)	अनगार के २७ गुण, (समवायांग)	अनगार के २८ मूलगुण, (मूलाचार)
(१) पंच महाव्रत	१–५. महाव्रत	१–५. पांच महाव्रत
१. अहिंसा		
२. सत्य		
३. अस्तेय		
४. ब्रह्मचर्य		
५. अपरिग्रह		
(२) पंचेन्द्रिय जय	६–१०. पंचेन्द्रिय जय	६–१०. पंचेन्द्रिय निरोध
६. स्पर्शन जय		११–१५. पांच समिति
७. रसना जय		ईर्या
८. घ्राण जय		भाषा
९. दृष्टि जय		ऐषणा
१०. श्रवण जय		आदान-निक्षेपण
		व्युत्सर्ग
(३) ११. रात्रि भोजन त्याग	११–१४. क्रोध, मान, माया, लोभ त्याग	१६–२१. छह आवश्यक
(४) १२. भाव सत्य	१५. भाव सत्य	सामायिक
(५) १३. करण सत्य	१६. करण सत्य	चतुर्विंशतिस्तव
(६) १४. क्षमा : क्रोध जय	१७. क्षमा	वंदना
(७) १५. विरागता—लोभ जय	१८. विरागता	प्रतिक्रमण
(८) १६-१८. मन, वचन, काय, शुभवृत्ति	१९–२१. मन, वचन, काय निरोध	प्रत्याख्यान
		कायोत्सर्ग
(९) १९-२४. छह काय के जीवों की रक्षा	२२–२४. रत्नत्रयसंपन्नता	२२. केश लोंच
(१०) २५. संयम	२५. योग सत्य	२३. आचेलक्य
(११) २६. वेदना सहता	२६. वेदना सहता	२४. अस्नान
(१२) २७. मारणांतिक कष्टसहता	२७. मरणांत कष्टसहता	२५. क्षितिशयन
(१३) २८. —	—	२६. अदन्त धावन
		२७. स्थिति भोजन
		२८. एक भक्त

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मूलगुण और उत्तर गुण

साधु के ३६ गुण (दिगंबर)	साधु के ३६ गुण (श्वेतांबर)	साधु के ३६ गुण (आशाधर । श्रुतसागर)
१–१२. तप	१–५. पांच महाव्रत	१–१२. तप
१–६. बाह्य तप		१३–२०.
७–१२. अंतरंग तप		आचारवत्व
१३–२२. दश धर्म		श्रुताधार
२३–२७. पांच आचार	६–१०. पांच आचार	प्रायश्चित्तदाता
दर्शनाचार	११–१५. पांच समिति	निर्यापक
ज्ञानाचार		आयापायज्ञ
तपाचार		दोषाभापक
चारित्राचार		अपरिस्रावी
वीर्याचार		संतोषकारी
२८–३३. छह आवश्यक	१६–२०. पंचेन्द्रिय जय	२१–२६. छह आवश्यक
	२१–२४. चार कषाय मुक्ति	
		२७–३६. दश स्थितिकल्प
		१. दिगंबरत्व, २. अनु० भोजी,
३४–३६. तीन गुप्ति	२५–२७. तीन गुप्ति	३. अशय्यासन, ४. अराजभुक्
	२८–३६. ९ वाड़युक्त	५. क्रियायुक्त, ६. व्रती,
	ब्रह्मचर्य पालन	७. सद्गुणी, ८. प्रतिक्रमी,
		९. षण्मासयोगी, १०. वर्षावास

होगी, जब राज्याश्रय को धर्म प्रचार का एक महत्त्वपूर्ण घटक माना गया।[१] विचारकों एवं सन्तों को इस प्रश्न ने सदैव आन्दोलित किया है कि धर्म राजाश्रित हो या राज्य धर्माश्रित हो ? जैनों ने यह अनुभव किया कि जब देश-काल का संक्रमण चल रहा हो और धर्म का अस्तित्व अग्नि परीक्षा में हो, तब सुरक्षा का एक मात्र सहारा राज्याश्रय ही है। दक्षिण में पल्लव राजाओं के युग में महेन्द्रवर्मा—I के धर्म-परिवर्तन ने जैनों की स्थिति पर तीक्ष्ण प्रभाव उत्पन्न किये। इसके अनुरूप अन्य क्षेत्रों में भी जैनों की दशा बिगड़ी। आत्म-लक्ष्यी साधु इस स्थिति से विचलित न होते—यह क्या सम्भव था ? वे संघ संचालक एवं समाज के मार्गदर्शी जो हैं। उन्हें मूल सिद्धान्तों में अपवाद मार्ग का आश्रय लेना पड़ा। उपरोक्त नियम (ii–iii) में संशोधन हुआ। तब से आज तक राज्याश्रय एवं श्रेष्ठि-आश्रय की प्रवृत्ति बनी हुई है। यह अपवाद के बदले उत्सर्ग मार्ग का रूप ले चुकी है। एक परम्परा बदली, दूसरी परम्परा आई। परम्परायें स्थायी नहीं होती, अतः जो लोग परम्परावाद को धर्म का मूल मानते हैं, उन्हें इतिहास का अवलोकन करना चाहिये। साधु या संघनायक अच्छी परम्पराओं के पोषी होते हैं पर वे नयी परम्पराओं के प्रतिष्ठापक भी होते हैं।

साधु-संस्था के प्रति आदरभाव रखने के बावजूद भी, आज का प्रबुद्ध वर्ग वर्तमान साधु-समाज की उपरोक्त दोनों प्रवृत्तियों पर काफी क्षुब्ध है। ऐसा प्रतीत होता है कि जैन परम्परा के वर्तमान साधुओं में इन प्रवृत्तियों से पूर्णतः विरत संघनायक आचार्य विरला ही होगा। यह तो अच्छा ही है कि भारत धर्मनिरपेक्ष गणराज्य है, अतः यह सभी धर्मों की प्रगति के प्रति उदारवृत्ति रखता है। अतः इस वृत्ति का लाभ अन्यों के समान जैन संघनायक भी लें

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

और धार्मिक प्रगति के श्रेयोमार्गी बनें, यह क्षोभ-जैसी बात तो नहीं होनी चाहिये। विभिन्न पंचकल्याणक महोत्सव, गोम्मटगिरि-जैसे तीर्थ स्थल निर्माण, गोम्मटेश्वर सहस्राब्दि समारोह, पच्चीस सौवां महावीर निर्वाणोत्सव के समान अगणित धर्म-प्रभावक कार्यों के लिये शासन की उदारता एवं सहयोग इसी प्रवृत्ति के प्रतिफल है। इन्हें मात्र क्षुद्र-स्वार्थ या झूठी शोहरत नहीं मानना चाहिये।[९] हाँ, यदि संघनायकों में यही प्रवृत्ति प्रमुख हो जावे, तो समाज के प्रबुद्ध श्रावक वर्ग को इसका नियमन करने में हिचक नहीं होनी चाहिये। सम्भवतः अभी आलोचना का युग ही आया है। आवश्यकता नियमन के युग की है।

राज्य, राजा, श्रेष्ठी आदि समाज हितैषी बनें, इस दृष्टि से संघनायक का उनसे संपर्क-सहयोग ठीक है। इसी आधार पर साधु, अनुद्दिष्ट रूप में, उनके यहाँ नियमानुकूल अशन-पान करे, यह भी औत्सर्गिक रूप में लेना चाहिये। वे भी पूरी समाज के ही एक अंग हैं। साधु-आचार के नियम उन पर भी लागू होते है।

साधु के आवास के सम्बन्ध में ग्राम या नगर में निवास की जो समय सीमा है, वह अब विचारणीय हो गई है। यदि भारतीय आंकड़ों का समुचित अवलोकन किया जावे, तो पता चलता है कि भारत के औसत ८० प्रतिशत गाँवों की आबादी आज भी ५०० से १००० के बीच आती है। इस आधार पर भारत के कुछ नगर निम्न आवास सीमा में आयेंगे (गाँव की अबादी १०००)। एक लाख की आबादी वाले नगरों में भी साधु २-३ वर्ष तक एक-साथ

नगर	औसत जनसंख्या	ग्राम-समकक्षता	आवास-सीमा
दिल्ली	६० लाख	६०००	१७ वर्ष
इन्दौर	२० लाख	२०००	६ वर्ष
कलकत्ता	९० लाख	९०००	२७ वर्ष
बम्बई	८० लाख	८०००	२० वर्ष
मद्रास	२० लाख	२०००	६ वर्ष

आवास कर सकता है। यह परिकलन अतिरंजित लगता है पर आज सम्भव नहीं कि दिल्ली जैसे नगर को पाँच दिन के धर्म लाभ की सीमा में बाँध दिया जावे। वर्तमान संघनायकों को इस विषय में नई दिशा का निर्देश देना चाहिये।

क्षेत्रों या गाँवों के आवासकाल में नित्य क्रियाओं के लिये विशेष जटिलता नहीं आती, पर नगरों में एक समस्या बन गई है। दिगम्बर साधुओं में इस प्रश्न पर चर्चा कम है पर श्वेताबर संप्रादाय में अभी भी यह प्रश्न ज्वलत बना हुआ है कि फ्लश सिस्टम का उपयोग किया जाय या नहीं ? अभी पूना में हुए सम्मेलन में इस विषय में स्व-विवेक के उपयोग से निर्दोष स्थिति का अनुसरण का ग्वाहरवां प्रस्ताव पास किया गया है[१०]। इसमें स्व-विवेक शब्द संघनायकों की अस्पष्ट दिशा का सूचक है। फ्लश लैटरीन के उपयोग की परोक्ष स्वीकृति स्वविवेक में है, पर प्रत्यक्ष स्वीकृति देने में हानि क्या है ? नगरीय आवासों में साधु के लिए इस सुविधा की सार्वजनिक स्वीकृति होनी चाहिये। इससे अनेक साधु-आवासों की जो अशुचिता समाचार पत्रों का विषय बन रही है, वह दूर हो जावेगी। जीवनरक्षी कार्यों में हिंसा-अहिंसा का प्रश्न भी महत्वपूर्ण नहीं माना जाना चाहिये।

साधु का आहार

जैन परंपरा में साधु दो प्रकार से आहार ग्रहण करता है। (i) पाणिपात्र (ii) अ-पाणिपात्र या भिक्षापात्र। एक परंपरा में साधु घर-घर भिक्षा ग्रहण कर अपने आवास में आहार ग्रहण करता है। अन्य परम्परा में विशेष प्रक्रिया के पूर्ण होने पर एक ही घर में आहार-ग्रहण करता है। यद्यपि साधु को अनुद्दिष्ट भोजी होना चाहिये, पर यह शब्द आदर्श ही है, व्यवहार नहीं। जिन श्रावकों के मन में साधु के आहार- दान की रुचि होती है, वह पहले से उसी के अनुरूप तयारी करता है। अतः वर्तमान साधु प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से उद्दिष्ट भोजी ही रहता

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है। हाँ, भिक्षा-पात्री परम्परा में यह दोष कुछ कम है क्योंकि न जाने साधु कब किस श्रावक के घर भिक्षाहेतु पहुँच जावे। यह जानते हुए भी इस आदर्श के बने रहने में कोई विशेष आपत्ति नहीं है।

साधु के आहार के लिये अनेक दोष और अन्तरायों के निराकरण का विधान है। वे सब उद्दिष्ट भोजन की प्रक्रिया के प्ररूप है। इस विरोधाभास को दूर करने का यत्न होना चाहिये। साधु के लिये मूलाचार[11] और आचारांग में एक स्वर से कच्चे फल, शाक, कन्दमूल आदि खाने का निषेध करते हुए पके या अग्निपक्व तथा अ-चित्तीकृत खाद्यों के आहार का उल्लेख है। पर समय के परिवर्तन एवं अनेक नये खाद्य और उनसे संबंधित ज्ञान के कारण उपरोक्त आगमिक संकेतों में काफी संकोच हुआ है। इनपर श्री अमर मुनि[12] अनिल कुमार जैन, मुनि नंदिघोष विजय, ललवानी[9] तथा अन्य विद्वान् लेखकों ने चर्चा की है। वैज्ञानिक मतानुसार बेक्टीरिया-जनित सभी पदार्थ अभक्ष्य होने चाहिये—दही, तक्र, सिरका, जलेबी आदि सभी अभक्ष्य हैं। पर अठपहरा घी, अमुक समय-सोमा का दही आदि की भक्ष्यता का कुछ लोग समर्थन करते हैं। जब और कुछ नहीं बनता, तो स्वास्थ्य विज्ञान की भी चर्चा करते हैं। चलितरस के साथ कन्दमूल का प्रश्न भी अनन्त कायिक जीव-धारणा के आधार पर आया है। अनेक विद्वान् कन्दमूल की अभक्ष्यता स्वीकार नहीं करते, हमारे लेह्य और स्वाद्य घटक का अधिकांश कन्दमूल ही है। बहुबीजक की परिभाषा स्वैच्छिक है। आहार का प्रश्न जीवन और उसके चारित्र या प्रवृत्ति से संबंधित है। मध्ययुगीन छद्मस्थों ने अपने अज्ञान को हमारे विवेक पर हावी कर दिया। इस विषय को वैज्ञानिक आधार देकर स्पष्ट संकेत आज की आवश्यकता है। साधु-संस्था के अनेक आलोचकों ने इस विषय में मौन रखा है, क्योंकि इस प्रत्यक्ष विषय में नई परम्परा की प्रतिष्ठा अनिवार्य बन गई है। इसके बावजूद भी, इस तथ्य से कोई इन्कार न करेगा कि साधु का आहार सात्विक एवं जीवनपोषी होना चाहिये।

साधु के अन्य कर्तव्य

आवास एवं आहार की मूलभूत एवं जीवनधारक क्रियाओं के अतिरिक्त साधु का प्रमुख कर्तव्य स्वाध्याय द्वारा ज्ञान-प्रवाह को अनवरत बनाये रखना तथा ध्यान के विविध रूपों द्वारा अन्तःशक्ति का चरम विकास करना है। साधु का अधिकांश जागृत समय इन्हीं या इनसे सम्बन्धित क्रियाओं में बीतता है।

साधु क्या, स्वाध्याय तो सभी के लिये आवश्यक है। इससे प्राचीन ज्ञान का प्रवाह चलता है, प्रज्ञा जागती है, अन्तःक्षमता बढ़ती है। महावीर के युग में स्वाध्याय आत्मदर्शन का नाम था, व्यक्तिगत अध्ययन की प्रक्रिया थी, संघ के जागरित रहने का प्रक्रम था। इस युग में गुरु-शिष्य परंपरा से ही स्वाध्याय के माध्यम से स्मरणशक्ति की तीक्ष्णता एवं द्वादशांगी की अविरतता संभव थी। बारह अंग और चौदह पूर्वों का ज्ञान स्मृतिधारा से प्रवाहित होता था। आचार्य का महत्व आचारवत्ता से तो था ही, जिन वाणी के महार्णव के रूप में भी था। उस समय लिखित शास्त्र नहीं थे, ग्रन्थ नहीं थे। आचार्यों और साधुओं का उत्तम संहनन, विद्या, बल और बुद्धि ही सारे आगमों के स्रोत थे।

समय बदला, मनुष्यों के संहनन, बल और बुद्धि में कमी आयी। शास्त्र लिपिबद्ध किये गये। किसी ने कम किये, किसी ने ज्यादा, किसी ने अपनी स्मरणशक्ति पर ही भरोसा रखा, पर अचानक ही विस्मृति होती रही। अब स्वाध्याय स्मृति या परंपरा पर कम, शास्त्रों पर अधिक आधारित हो गया। शास्त्र स्वाध्याय के अभिन्न अंग बन गये। इसलिये स्वाध्याय से शास्त्र या आगम के समान प्रामाणिक ग्रन्थों के अध्ययन का अर्थ स्वयमेव स्वीकृत हो गया। ध्यान के प्रभाव से स्मृति तीव्रता का गुण अपेक्षित था, पर वह भी नहीं रहा। फलतः स्वाध्याय के लिये शास्त्र आवश्यक हो गये। संघ के साथ शास्त्र-परिग्रह जुड़ा। यदि शास्त्रीय चर्चा के सन्दर्भ में कहा जावे, तो द्वादशांगी के पदों का प्रमाण एक अरब तेइस करोड़ से अधिक होता है। इस आधार पर आज के ३०० अक्षर प्रति पेज के हिसाब से लगभग

Jain Education International   For Private & Personal Use Only   www.jainelibrary.org

५०० पेज की तीन-सौ पुस्तकों के समकक्ष अकेली द्वादशांगी बैठती है। आज उपलब्ध एकादशांगी तो इसका मात्र ३.३% ही बैठती है। इतना शास्त्र परिग्रह संघ में रहे, तो आपत्तिजनक नहीं माना जाना चाहिये। हाँ, जहाँ संघ लंबे समय तक के लिये रुकने वाला हो, वहाँ उसके स्वाध्याय के लिये अच्छा पुस्तकालय अवश्य होना चाहिये।

स्वाध्याय का एक लक्ष्य जहाँ अपनी प्रज्ञा को विकसित करना है, वहीं शिष्यों और श्रावकों को भी प्रज्ञावान् बनाना है। उनकी प्रज्ञा का संवर्धन जनभाषा से ही हो सकता है। महावीर ने अपने युग में भी ऐसा ही किया था। इसलिये शास्त्रों के स्वाध्याय की प्रवृत्ति को पल्लवित करने के लिये साधुओं को स्वयं एवं विद्वानों के सहयोग से जनभाषान्तरण एवं ज्ञान के नये क्षितिजों के समाहरण का कार्य भी करना आवश्यक हो गया है। प्राचीन युग में या मध्यकाल में इस कार्य का महत्व उतना न भी आंका गया हो, पर आज यह अनिवार्य है। इस कार्य हेतु समुचित सुविधाओं का सुयोग साधुत्व को बढ़ाने में ही सहायक होगा। शास्त्र एवं सुविधा का यह परिग्रह परंपरावादियों के लिये परेशान करता है, पर समयज्ञों के लिये यह अनिवार्य-सा प्रतीत होता है। क्या हम नहीं चाहते कि हमारा संघनायक परा और अपरा विद्याओं में निष्णात न हो? क्या हम नहीं चाहते कि हमारा साधु विद्यानुवाद, प्राणावाय, (आयुर्वेद, मन्त्र-तन्त्र विद्यादि), लोकविन्दुसार (गणित विद्या), क्रियाविशाल (काव्य एवं आजीविका के योग्य कलायें), प्रथमानुयोग, आत्म एवं कर्मप्रवाद आदि का सम्यग् ज्ञाता हो? शास्त्रों का आदेश है कि इन विद्याओं का उपयोग स्वयं के आहार पाने या आजीविका के लिये न किया जावे, पर लोकोपकार के लिये ऐसा करना कहाँ वर्जित है? मध्यकाल की जटिल परिस्थितियों को देखते हुए जैन आचार्यों ने अनेक लौकिक विधियों का अपने आचार-विचार में समाहरण किया। इसी से वे महावीर तीर्थ की रक्षा कर सके। मानतुंग, समन्तभद्र या अकलंक को धर्मप्रभावना हेतु ही अपनी विद्यायें प्रदर्शित करनी पड़ीं। यह सचमुच ही खेद की बात होगी यदि बीसवीं सदी के आचार्य अपनी इन स्वाध्याय-प्राप्त विद्याओं एवं अन्तःशक्ति का उपयोग प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से स्वयं के भौतिक हित में करें। ऐसे संसक्त साधुओं से साधु-संस्था गरिमाहीन हो जावेगी। सत्चारित्री श्रावक ही साधु-संस्था को ऐसे दोषों से उबार सकता है। इन दोषों से साधु अयथार्थ होता है, अप्रतिष्ठित हो सकता है।

प्राचीन जैन शास्त्रों के स्वाध्याय से ज्ञात होता है कि जैन पद्मावती, क्षेत्रपाल आदि शासन-देवताओं को आशाधर तक के युग में, पूजनीय नहीं मानते थे। इसी प्रकार, भट्टारक पद भी, जो प्रारंभ में धर्मसंरक्षण हेतु अस्तित्व में आया, तेरहवीं सदी में सम्मानित नहीं माना गया,[13] आज आचार्य पालित हो रहा है। कुछ भट्टारकों के दर्शन भी सामान्य अवस्था में दुर्लभ है। इन दोनों परंपराओं की मान्यता आज पुन वर्धमान है। सैद्धान्तिकतः यह सही नहीं है, पर इस विषय में मतभेद भी इतने हैं कि हमारे संघनायक भी इस विषय में मौन है। यदि स्वाध्याय हमें मूल सिद्धान्तों की रक्षा का बल नहीं देता, तो इसे अचरज ही माना जाना चाहिये।

साधु और बीसवीं सदी

बीसवीं सदी का उत्तरार्ध जैन साधुओं की प्रतिष्ठा के लिये कठोर परीक्षा का समय प्रमाणित हो रहा है। हमने पिछले कुछ प्रकरणों में बीसवीं सदी के अनेक समस्यात्मक प्रकरणों से साधु-संस्था के प्रभावित होने की चर्चा की है। इन प्रकरणों का सामयिक निर्देशक समाधान प्रबुद्ध वर्ग की दृष्टि में साधुओं के प्रति सम्मान लायेगा। लेकिन कुछ ऐसे भी प्रकरण भी हैं जिन्हें नियंत्रित करना अत्यन्त आवश्यक प्रतीत होता है। इनकी ओर अनेक विद्वानों एवं पत्रकारों[7] ने ध्यान आकृष्ट किया है। हमारी आशा है कि हमारा संघनायक वर्ग इन समस्याओं का सही समाधान कर साधु-संस्था के प्रति वर्धमान अनास्था को दूर करने में सहायक होगा।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विभिन्न स्रोतों से बीसवीं सदी की साधु संस्था में निम्न समस्यायें सामने आई हैं :

(i) साधुओं की तथा आचार्यों की संख्या दिनों दिन बढ़ रही है। यह अच्छी बात थी, यदि इनकी साधुता, प्रज्ञा एवं आचारवत्ता आदर्श होती। पर देखा गया है कि इनके बिना भी आज साधुत्व एवं आचार्यत्व मिल रहा है। अनुशासन एवं मूलभूत तत्वों की उपेक्षा हो रही है। ईर्ष्या एवं प्रतिभावत्ता नये-नये संघों को जन्म दे रहे हैं। साधना एवं आत्म-विकास के पथ में राजनीतिक सिद्धान्तों का पल्लवन हो रहा है। बाल-दीक्षायें दी जा रही है। इस स्थिति पर पूर्णतः अंकुश लगना चाहिये। प्रौढ़ अथवा बुद्धि-अनुभव परिपक्वता दीक्षा की अनिवार्य शर्त होना चाहिये। आगमिक और आधुनिक अध्ययन एवं आचार का गहन अभ्यास भी आवश्यक माना जाना चाहिये।

(ii) साधु एवं आचार्य नित नई संस्थायें बनाते जा रहे हैं। इसका उद्देश्य धर्म और नैतिकता का साहित्यिक एवं सांस्कृतिक धरातल से प्रसारण माना जाता है। इन संस्थाओं के क्रियाकलाप, कुछ अपवादों को छोड़कर, उद्देश्यों के पूरक सिद्ध नहीं होते। ये स्वावलम्बी बनने के पूर्व ही सिमटने लगती हैं और टिमटिमाने के सिवा इनका प्रकाश विकिरित नहीं हो पाता। दिगम्बर समाज में अनेक संस्थायें प्रारम्भ हुईं पर उनमें कोई जीवन्त है, ऐसा नहीं लगता। हाँ, विद्वानों के द्वारा स्थापित कुछ संस्थायें अवश्य कभी-कभी अपनी चमक दिखाती हैं। श्वेताम्बर परम्परा में साधु-जन स्थापित अनेक संस्थायें जीवन्त काम कर रही हैं। ये दिगम्बरों के लिये प्रेरक बन सकती हैं। यह सामान्य सिद्धान्त होना चाहिये कि केवल स्वावलम्बन पर आधारित संस्थायें ही खोली जावें और उनमें कम-से-कम एक योग्य एवं जीवनदानी के समान पूर्णकालिक विद्वान् या व्यवस्थापक अवश्य रखा जावे। आज क्रियाशील संस्थाओं की आवश्यकता है। यह और भी अच्छा है कि विद्यमान संस्थाओं कों ही सक्रिय जीवनदान दिया जावे।

(iii) साधु एवं आचार्यों के अध्ययन-अध्यापन के लिये, लेखन तथा प्रकाशन कार्यों के लिये वेतनभोगी कर्मचारी रखे जाते हैं। बीसवीं सदी में इसे आपत्ति या समस्या नहीं मानना चाहिये और न इसे परिग्रह या संसक्ति का रूप मानना चाहिये। स्वाध्याय एवं ज्ञान-प्रसार साधु का अनिवार्य कर्तव्य है। साधु न केवल आत्मधर्मी ही होता है, वह संघ-धर्मी एवं समाजधर्मी भी होता है। नैतिक विकास की उदात्त धाराओं का प्रकाशन और प्रसारण, एतदर्थ, महत्त्वपूर्ण होता है।

(iv) साधु एवं संघनायक सामयिक सामाजिक एवं धार्मिक समस्याओं के समाधान की दिशा में उपेक्षाभाव रखते हैं। उदाहरणार्थ, वर्तमान जटिल परिस्थितियों में तथा धर्म प्रचार हेतु पदयात्रा के साथ-साथ शीघ्रगामी वाहनों का उपयोग एक ज्वलन्त प्रश्न है। कुछ जैन साधुओं ने इस दिशा में नेतृत्व दिया है पर साधु-संघ का बहुभाग इस प्रश्न पर मौन है। कहीं साधु और श्रावकों के मध्यवर्ती एक नयी साधक श्रेणी का गठन हो रहा है जो यानों का उपयोग कर सकती है। इस विषय में कुछ छेद-मार्ग निर्दिष्ट होने चाहिये। जैन शास्त्रों एवं ग्रन्थों के भौतिक जगत् सम्बन्धी अनेक कथन वैज्ञानिक ज्ञान के परिप्रेक्ष्य में असंगत प्रतीत होने लगे हैं। उन्हें सुसंगत बनाना भी एक महत्त्वपूर्ण कार्य दिशा है। वस्तुतः अमर मुनि[१४] ने तो यह सुझाव ही दिया है कि धार्मिक मानक ग्रन्थों में आत्म-विकास की प्रक्रिया के अतिरिक्त अन्य चर्चाओं को स्थान नहीं है। अतएव इन ग्रन्थों के संशोधन की आवश्यकता है। जिन तत्वों में विसंवाद की संभावना भी हो, वे आत्म शास्त्र के अंग नहीं माने जा सकते। इस मत पर साधु-संघों को गम्भीरतापूर्वक विचार करना चाहिये।

Jain Education International   For Private & Personal Use Only   www.jainelibrary.org

(v) ऐसा प्रतीत होता है कि बीसवीं सदी का साधु वर्ग महावीर युग के आदर्शवाद और बीसवीं सदी के वैज्ञानिक उदारवाद के मध्य बौद्धिक दृष्टि से आन्दोलित है। वह अनेकान्त का उपयोग कर दोनों पक्षों के गुण-दोषों पर विचार कर तथा ऐतिहासिक मूल्यांकन से कुछ निर्णय नहीं लेता दिखता। मधु सेन[१] ने मध्यकाल की जटिल स्थितियों में निशीथ चूर्णिकारों के द्वारा मूल सिद्धान्तों की रक्षा करते हुए जो सामयिक संशोधन एवं समाहरण किये हैं, इनका विवरण दिया है। इसे एक हजार वर्ष से अधिक हो चुके हैं। समय के निकष पर जैन साधु के व्यवहारों व आचारों को कसने का अवसर पुनः उपस्थित है। साधुवर्ग से मार्ग निर्देशन की तीव्र अपेक्षा है।

●

निर्देश

१. मधु, सेन; ए **कल्चरल स्टडी आव निशीथ चूर्णि**, पार्श्व० विद्याश्रम, काशी, १९७५, पेज २७७–२९०।
२. मुनि, आदर्श ऋषि; **बदलते हुए युग में साधु समाज**, अमर भारती, २४, ६, १९८७ पेज ३२।
३. साध्वी, चंदनाश्री (अनु०); **उत्तराध्ययन**, सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा, १९७२, पेज १४५।
४. वही, पेज ४६७।
५. आचार्य वट्टकेर; **मूलाचार–१**, भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली, १९८४, पेज ५।
६. आचार्य कुंदकुंद; **अष्ट पाहुड-चारित्र प्राभृत**, महावीर जैन संस्थान, महावीर जी, १९६७ पेज ७७।
७. आचार्य विद्यानंद; **तीर्थंकर**, १७,३–४, १९८७ पेज १९।
८. सौभण्यमल जैन; **अमर भारती**, २४, ६, १९८७ पेज ७२।
९. देखिये निर्देश, ७ पेज ६।
१०. उपाध्याय, अमर मुनि; **अमर भारती**, २४, ९, १९८७ पेज ८।
११. आचार्य वट्टकेर; **मूलाचार–२**, भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली, १९८६ पेज ६८।
१२. उपाध्याय अमर मुनि; **'पण्णा समिक्खए धम्मं–२'**, वीरायतन, राजगिर, १९८७ पेज १००।
१३. पंडित आशाधर; **अनगार धर्मामृत**, भा० ज्ञानपीठ, दिल्ली, १९७७, मू० पेज ३६।
१४. देखिये निर्देश १२ पेज १६।

सिद्ध पुरुष पुरातत्वज्ञ के समान होता है जो युगों-युगों से धूलि-धूसरित पुराने धर्म-कूप की कर्म-धूलि को दूर कर लेता है। इसके विपर्यास में, अवतार, अर्हंत या तीर्थंकर एक इंजीनियर के समान होता है जो जहाँ पहले धर्मकूप नहीं था, वहाँ नया कूप खोदता है।

संतपुरुष उन्हें ही मुक्तिपथ प्रदर्शित करते हैं, जिनमें करुणा प्रच्छन्न होती है पर अर्हंत उन्हें भी मुक्तिपथ प्रदर्शित करते हैं जिनका हृदय रेगिस्तान के समान सूखा एवं स्नेहविहीन होता है।

—रोबर्ट क्रोस्बी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org